

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-प्रन्यान्तर्गता-वशमी

चतुःश्लोकी

सप्तभिष्टीकाभिः समलंकृता

- | | |
|----------------------|--------------------------|
| १. श्रीवज्रराजानाम् | ५. श्रीकृष्णरायभट्टानाम् |
| २. श्रीवल्लभानाम् | ६. श्रीनाथभट्टानाम् |
| ३. केषाञ्चित् | ७. श्रीद्वारकेशानाम् |
| ४. श्रीमथुरानाथानाम् | |

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुवरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायणां टिप्पणी
२. श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्यलीला-

स्थित-गोस्वामि-श्री १००८ श्रीगोकुलनाथ-महाराज-

श्रीत्येतेषां-स्मृती-प्रकाशिता

वि. सं. २०३६

श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

प्रकाशक :

श्रीगोकुलनाथजी महाराजस्थापित मोटा मन्दिर ट्रस्ट,
बड़ा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई, ४००००२. भारत.

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग, चोपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामी १००८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यवरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

चतुःश्लोकीका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५८० या ८२ में कभी किया था ऐसी किंवदन्ती मिलती है। यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवदीयके लिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अनुसार राना व्यास और भगवानदास सांचोरा ने श्रीमहाप्रभुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप एवम् स्थान होता ही है। यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बीजभाव, रवि, संग या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप तत्तन्मार्गीय जीवोंमें पुरुषार्थ-सम्बन्धी धारणायें भिन्न-भिन्न पायी जाती हैं। पुष्टिमार्गीय जीवोंकी धर्मार्थकाममोक्ष-सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतुःश्लोकीमें किया गया है।

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पड़ जाता है तो विफलता, निराशा, कुण्डा, क्षोभ एवम् आत्मवाती भावनाओं की ओर ही वह अग्रसर हो जाता है। इस जगतमें सभी तरहके जीव हैं और सभीको सभी तरहके संग भी मिल जाते हैं। इन आकस्मिक संगोंके कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वभाविक अहन्ता-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है।

गोधराके राना व्यासकी भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी संगति मिली थी। उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राना व्यासको लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोंकी यात्रा करते रहनेमें ही होना चाहिये। अतः अपने माता-पिताको कुछ कहे-सुने बिना एक रात ये घरसे निकल भागे। इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया। प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता-पिताके देहान्तके बाद इन्हें पांच दस हजार रुपये और उत्तराधिकारमें मिले फलतः इन्हें धनाभिमान भी हो गया ! कुल मिला कर ये अपने-आपको पहुंचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये। शनैः-शनैः अपने गांवके लोग तो इन्हें गंवारू ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंसे टकरार लेनेकी लालसा इनके दिलमें जगी और एक दिन ये काशी पहुंच गये। वहां जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा ही हुआ, जिन-जिन पण्डितोंसे ये टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होना पड़ा !

इससे ये अत्यधिक लज्जित होकर गंगामें कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे. यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हें संकोचका अनुभव हो रहा था सो गंगातटपर बैठे रात्रीके एकान्त और अन्धकार को प्रतीक्षा कर रहे थे! तभी श्रीमहा-प्रभुका भी वहां पधारना हुआ. संयोगवश किसी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गंगामें डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होती है. इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड़-झगड़कर डूबनेवालेको सर्वयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है. दोनभावसे किन्तु सन्यास लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गंगामें प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नहीं होती.

ये बातें सीधी जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौड़कर श्रीमहाप्रभुके चरणों में आकर गिर पड़े. अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरण्याचना करने लगे. श्रीमहाप्रभुने गंगास्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी. तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हें चतुःश्लोकीका उपदेश भी दिया था. ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए. श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंकी इनके द्वारा हस्त-लिखित प्रतियां अद्यापि उपलब्ध होती हैं.

इस चतुःश्लोकीके अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वत्ताके अहंकारसे मुक्त हुए. साथ ही साथ इस अहंकारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भी क्षुद्र भावनाओंपर काबू पा सके. ये एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये.

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निरुपाधिक होती है. स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवके हृदयमें भक्तिका रूप धारण कर लेता है. भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोंपर निर्भर नहीं होता. वह तो निर्हेतुक ही प्रकट होता है. जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान होता है उस जीवमें वह प्रेम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपमें अंकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओंमें 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है. भगवदनुग्रहको ही अतः दिशाभेदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवके हृदयसे परावृत्त होकर पुनः भगवान्की दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं. निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशमें समा नहीं सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिकी सरिताके रूपमें बहने लग जाती है! उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहांसे उठकर कृपाके मेष जीवपर बरसे थे! !

अतः जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयोजन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिसे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई

प्रयोजन ही. केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है (अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्...स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदेस्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्तत्रैकतयादन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवत्. यथा यथा भगवन्नैकतयं तथा तथा स्नेहातिशयः. सुबो. १-१५-१६).

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्या-दामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोंकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें चिरस्थायी नहीं हो सकती. ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम या मोक्ष का स्वरूप अन्यमार्गीय पुरुषार्थोंसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है. श्रीमहाप्रभुने इस चतुःश्लोकीमें पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोंका विलक्षण रूप हमें समझाया है. चतुःश्लोकी ग्रन्थके ये चारों श्लोक भागवतकी वृत्रासुरचतुःश्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं. वृत्रासुरचतुःश्लोकीके भीचार श्लोकोंमें इन्हीं पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोंका स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है. प्रारम्भके तीन श्लोकोंपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है. इस अन्तिम श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक संग्रहश्लोक दिया है—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि ।

कामो हरिर्दिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥

अर्थ : श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है. पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव श्रीहरि हैं. श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है.

इसी सूत्रका भाष्य वृत्रासुरचतुःश्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीमें भी हम पाते हैं.

पुष्टिमार्गमें भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है. रसमीमांसामें रति-स्नेहके संयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये हैं. अतः भक्तिमार्गमें भगवान्की अनुभूति जब संयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनुभूति मानी जाती है. अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते हैं. रस द्विदलात्मक है अतः संयोग और वियोग दोनोंमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाये तो फलावस्था मानी जाती है. तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक है; और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है. क्योंकि धर्ममें—ब्रजाधिपके भजनमें केवल संयोगका अनुभव होता है तथा काममें—हरिदर्शनकामनामें केवल वियोगका अनुभव होता है. जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है, अतः मोक्ष—भगवद्भजनमें संयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति जब निरन्तर या क्रमशः होने लग जाये तो भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूर्णतापर पहुंच जाती है. पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है.

पुष्टिभक्तका धर्म

पुष्टिमार्गमें ब्रजाधिप ही भजनीय हैं। क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमानन्द रूप हैं। अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा परब्रह्म परमात्मा व्यापिवैकुण्ठनायक भगवान् जब अपनी पूर्णताको लिये हुए ब्रजमें अपनी नित्यलीला प्रकट करते हैं तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है। जीव चाहे सुसाधन हों या निःसाधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके निःश्रेयसके लिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है। जीवोंके साधनबलकी परवाह किये बिना अपने स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द के बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है।

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके अंशी होनेके कारण सहज स्वामी हैं। शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणसे आध्यात्मिक रूपमें सभी जीवात्मायें अंश होनेके कारण श्रीकृष्णकी सहज दास हैं। परन्तु लीलार्थ किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपमें इस भूतलपर और आधिदैविक रूपमें व्यापिवैकुण्ठमें भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं। ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये। यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धों द्वारा स्थापित हो सकता है। यथा सेवक, पुत्र, माता-पिता, सखा, या प्रियतमा आदि रूपमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगतमें या आधिदैविक नित्य लीलामें, तो भगवान्का वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती हैं। अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है !

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तविशेष ही उनके दर्शन कर पाता है। अपने दोनों प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथों के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवैकुण्ठ अथवा ब्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते हैं। अतएव भक्तके भावोंके अनुरूप स्वयम्को ढाल पानेकी कसौटीपर ब्रजलीलाविहारी ब्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए पूर्णतम परमानन्द-स्वरूप सिद्ध होते हैं, मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द-स्वरूप होनेपर भी। अतएव ब्रजभक्तोंके लिए एवम् ब्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टि-फलोंके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं — "अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मकः"

ब्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावसे करना चाहिये ? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं—'सर्वभावसे।' "त्वमेव सर्वं मम देवदेव !" — मेरे माता-पिता बन्धु-मित्र पुत्र धन-विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये। केवल मधुरभावसे भी भजन किया जा सकता है।

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र, सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोंके आलम्बन (विभाव) बनते हैं तो तदनुरूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं। श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते हैं वह ब्राह्म रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनों ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं। लौकिक आधिभौतिक या मायिक नहीं। भक्तोंके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं। भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् रसभोक्ता हैं तथा रसभावके रूपमें भगवान्को भोग्य भी माना जाता है। कभी-कभी भक्तपरवश होकर भगवान् आलम्बनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते हैं। इसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहा जाता है। भोक्तृभाव 'पुम्भाव' कहलाता है और भोग्यभाव 'स्त्रीभाव'। भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ पुम्भाव' कहते हैं। उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है। अध्ययन-अध्यापनकी दुर्लभ तन्मयतामें गुरुका गूढ़ विद्यार्थीभाव कभी प्रकट होता है इसी तरह विद्यार्थीका गूढ़ गुरुभाव भी ! इन गूढ़ भावोंका प्राकट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके—स्वामि-सेवक, पुत्र-माता-पिता, सखा-सखा या प्रिया-प्रियतम—सम्बन्धोंमें भक्त और भगवान् में इन गूढ़ भावोंको प्रकट करनेके मनोरथसे भी भगवान् भजनीय हैं।

जिन भक्तोंमें ऐसा गूढ़भाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोंके लिए भगवान्ने स्वयम्में ऐसे गूढ़भाव प्रकट किये ऐसे भक्तोंके प्रति दैन्यभाव रखते हुए भजन करना चाहिये— "अहं हरेस्तव पादकमूलदासानुदासो भवितास्मि"। हमारे हृदयमें जबतक कोई एक निश्चित भाव स्थिर नहीं हो जाता तबतक विविध भावोंकी भावना करने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। प्रारम्भमें अतएव भगवत्सेवा ब्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर — ब्रजभक्तोंको अपना गुरु मानकर करनी चाहिये। साधनावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाके माध्यमसे ब्रजभक्तोंके भावोंतक पहुंचानी पड़ेगी। किसी निश्चित दिशामें बहती एक नदीके समान भावना होती है, जो भावके रूपमें सागर बन जाती है। सागर बहता नहीं केवल लहराता है ! अतः ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यज्ञान-जनित दैन्य और आत्मा-अंश तथा परमात्मा-अंशों के सहज निरुपाधिक स्नेह के साथ प्रारम्भमें कृष्णसेवा करनी चाहिये। सेवाके इस प्रकारकी ही भावदीक्षा ब्रह्मसम्बन्धके समय दी जाती है। आत्मनिवेदनके समय अहन्ता और ममता से जुड़े सभी पदार्थों और सम्बन्धोंको हमें भगवान्को समर्पित करना होता है। इस सर्वसमर्पणके भावसे भी भगवद्-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये। यों 'सर्वभावेन' में सभी भाव विवक्षित हैं।

किसी कालविशेषमें एक कर्मकाण्डकी तरह भजनका अनुष्ठान हमें नहीं करना है। एक जीवनप्रणालीके रूपमें सर्वदा-निरन्तर अर्थात् किसी कालके नियमके बिना

भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये. भगवद्-भक्तकी सभी क्रियायें— सोने-जगने कमाने-खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी—उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अंग ही बन जाती हैं.

“पुष्टिभक्तके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है” यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है. क्योंकि किसी आदेशकी अवहेलनाके कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता ! श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे हैं किन्तु भगवान्के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं. पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है. जैसे कोई शिशु अपनी मांके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई प्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बेचैन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खड़ी फसल बरसात न पड़नेके कारण सूख जाये ! ऐसे ही जिस पुष्टिजीवसे जिस समय या जिस जन्ममें कृष्णसेवा नहीं निभ पाती वह समय और जीवन उसका व्यर्थ चला जाता है. उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है ! पुष्टिजीवसे ब्रजाधिपकी सेवा न निभना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है. इस अर्थमें ब्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोंका प्रथम एवम् चरम सनातन धर्म है—उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य !

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि सभी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यही कर्तव्य है—यही धर्म है. किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका हो नहीं सकता.

कृष्णसेवाके सिवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वाभाविक धर्म नहीं होते, किन्तु औपाधिक-आकस्मिक धर्म ही होते हैं. अविद्याके बन्धनके कारण आरोपित अहन्ता-ममताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं. उदाहरणतया स्त्री-पुरुष ब्राह्मण-शूद्र या गृहस्थ-सन्यासी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रम के अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते हैं. मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ या मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ या मैं सन्यासी हूँ इत्यादि रूपोंमें हमारी आरोपित अहन्ताके कारण तत्तद् देहोचित वर्णोचित या आश्रमोचित कर्तव्य हमारे लिए धर्म बन जाते हैं. इसी तरह माता-पिता और सन्तति, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के ममताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तत् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है.

हम देख सकते हैं कि अहन्ता-ममताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमान-मूलक हैं. जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है. अतएव अन्य सारे कर्तव्य देश-काल-द्रव्य-मन्त्र-कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा

रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है. पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए धर्मरूप स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है. भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है. अतएव भक्तरत्न वृत्रासुर कहता है—

हरि! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ. मोक्षमें तो ज्ञानसे त्रिविध दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हरते हो तो ही दूर होने चाहिये. लौकिक अहम्के बन्धनोंसे मुक्त होनेवाले जानियोंका 'सोहम्'वाला अहम् मुझे नहीं सुहाता है. मेरे भीतर 'दासोहम्' का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नहीं ऐसा कुछ कर दो. यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होऊँ तो मुझे आपके दासोंका दास बनाओ. मेरा मन, मेरे प्राणनाथ ! तुम्हारे गुणोंको गुनता रहे—मेरी वाणी तेरे गुणोंको गाती रहे—मेरी काया सर्वदा तेरी सेवा करती रहे. ऐसी आशिष मुझे दो.

पुष्टिभक्तका अर्थ

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही हैं. श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वधर्म भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये (एवं सदा स्म कर्तव्यम्). इस कृष्णसेवाके लिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके आधिभौतिक व्यापारमें उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपार्जनके लिए अन्याश्रयवाली आधिदैविक भृतकवृत्तिमें ही उलझनेकी आवश्यकता है. भगवान् तो अन्याश्रय अथवा प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना भक्तिके हितमें अपेक्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षेमका और स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वयमेव करेंगे. एतदर्थ उन्हें किसी लौकिक-पारलौकिक साधनोंकी या अर्थोंकी अपेक्षा नहीं है. भगवान् भावात्मक हैं अतः छोला और छप्पनभोग, जो भी भावसे निवेदित किया जाये, समान रुचिसे स्वयमेव अंगीकार करेंगे. अतः लौकिक अर्थ धन-सम्पत्तिपर यह भगवत्सेवा निर्भर नहीं है.

श्रुतिमें कहा गया है— “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्” अर्थ : यह परमात्मा प्रवचन मेधा या बहुश्रुततासे प्राप्त नहीं होता किन्तु अपनी प्राप्तिके लिए यह जिस जीवात्माको चुन लेता है उसे ही मिलता है—उसके ही समक्ष यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है. अतः इस परमात्मस्वरूप अर्थका उपार्जन हमारे साधन या व्यापार से शक्य नहीं है. जिस जीवात्माका वरण वह सर्वसमर्थ परमात्मा करता है उस जीवात्माके साधनोंकी वह परवाह नहीं करता. भगवत्सेवाके अधिकारी वे ही जीव होते हैं, जिनका भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनाव करते हैं. जिन्हें भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनते हैं उनके समक्ष अपने भोग्य-स्वरूप— गूढ़ स्त्रीभावको प्रकट करते हैं. जिन जीवोंके लिए भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेकी ठान लेते हैं वे ही जीव भगवान्के लिए अपने-आपको समर्पित कर पाते हैं! इस परस्परके समर्पणके बाद जीवात्मा और परमात्मा

के बीच कोई परदा रह नहीं जाता. अतः पुष्टिप्रभुका गूढ़ स्त्रीभाव एवम् पुष्टि-जीवका गूढ़ पुंभाव प्रकट हो जाता है.

व्रतचर्याके प्रकरणमें ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवान्ने वरदान दिया था. वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थी. भगवान्ने उनके चीर हर लिये ! यह चीरहरण भगवान्में प्रकट हुए गूढ़ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुनः जो चीर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ़ पुंभावका वितरण था. कुमारिकायें श्रीकृष्ण के लिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकि श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हें व्रत कर लिया था—चुन लिया था. चीरहरण तो केवल प्रकट पुंभाव और स्त्रीभावों का विनिमय मात्र था ! इसके बाद जो कुमारिकाओंमें भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था; और न छ वरसकी कुमारिकाओंके देह, जिनमें न तो तारुण्य और न किसी वैसे लावण्य की ही सम्भावना हो सकती थी, का कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है. ऋषि-मुनियोंके तप एवम् व्रत का भंग तो कामदेव कर सकते हैं, परन्तु इन छह वरसकी कुमारिकाओंमें श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उसे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामादपि कमनीय रूपका ही था. प्रमेय-प्रकरणमें श्रुतिरूपा गोपिकाओंके श्रीकृष्णके प्रति निरूपाधिक स्नेहको शृंगारोपाधिक गूढ़ पुंभावके रूपमें इसी शृंगाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था. निरूपाधिक निराकार स्नेहको शृंगाररसके स्थायिभावके आकारमें वेणुकूजनकी छेनीसे गढ़ा था ! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“केवलं शृंगारार्थमेव कूजनम्” (सुबोधिनी-वेणुगीत).

श्रीकृष्णके बारेमें किसी भी प्रकारका स्नेह—दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्य-भावात्मक—स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोंके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यसे ही सम्भव होता है.

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते हैं तब जीवमें दास्यभाव जगता है. श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमें वात्सल्य उभरता है. श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बेचारा कंस भयभीत हो जाता है. श्रीकृष्णकी क्रीड़ाकी इच्छासे किसी सखाको खोजनेपर हमारे भीतर सख्यभाव पनपता है. श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामना ही हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमकी अंकुरित करती है. वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अंगड़ाई लेने लगता है. उस आत्मारामके भक्तकाम बननेपर भक्तोंमें अलौकिक भगवत्काम प्रकट होता है. वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी मां यशोदाकी गोदमें गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है. हां, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टि-भक्तकी सेवाके बिना रह न सके इतना असमर्थ भी बन जाता है ! वह काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष किसीके भी अधीन नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है. हम परतन्त्र हैं

परन्तु वह स्वतन्त्र-परतन्त्र है. अतएव कहता है—“अहं भक्तपराधीन ह्यस्वतन्त्र इव”, अर्थात् हम ‘अस्वतन्त्र एव’ हैं पर अज्ञानवश अपने-आपको ‘स्वतन्त्र इव’ मान लेते हैं. वह ‘स्वतन्त्र एव’ है अतएव कृपावश ‘अस्वतन्त्र इव’ बन जाता है !

वह सर्वसमर्थ सर्वभोक्ता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है—सम्यक् अर्थ है. अर्थ, किन्तु, भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा. अन्यथा भावात्मक अर्थके भोंडे प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है—चुर जाता है. अतः ‘अर्थ’ कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वसमर्थ’ कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है ! पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चिन्त रहना चाहिये. अन्यथा बुद्धि या हृदय के द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है.

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ-प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोक्ताके पदको छोड़कर हमारे हृदयके स्थायी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उद्यत है. अतः लोकार्थिताके भावोंको हृदयमेंसे इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से बुहारना पड़ेगा. अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी ! इन प्रतीक्षाकी घड़ियोंमें बाहर खड़े पुष्टिप्रभुके बारेमें हमारे मनोरथ जो गांवमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रसाभास हो जायेगा ! क्योंकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एक ही दिशा है—“प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्.” वृत्र तो असुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिमय करनेका मनोरथ नहीं करता—

न तो मुझे लौकिक सात्त्विक अर्थ स्वर्गका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुझे लौकिक राजस अर्थ सारी पृथ्वीके धनका स्वामी ही बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लोकोंका आधिपत्य ही. न मुझे वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगसिद्धियोंकी ही कोई कामना है और न वैदिक सात्त्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपुनर्भव-मोक्षकी ही कामना है. मेरे सर्वार्थरूप केवल हरि हैं—उनके अलावा और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये ! (प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्).

पुष्टिभक्तका काम

श्रीकृष्ण-दर्शन-कामना ही पुष्टिभक्तका काम पुरुषार्थ है. नेत्रोंसे श्रीकृष्णके केवल दर्शनमात्र करनेके सीमित अर्थमें दर्शनाभिलाषा नहीं लेनी चाहिये. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि पुष्टिभक्तकी कामना नेत्रोंसे केवल भगवान्के दर्शन कर लेनेसे पूरी नहीं हो जाती—वह तो सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की अनुभूति चाहता है. अतः नेत्रोंसे साक्षात्कार होना ही फल नहीं है (दृष्टेपि भगवति यावत्सर्वेन्द्रियैः साक्षात्त्रानुभूयते न तावत्स्वास्थ्यमिति न साक्षात्कारमात्रं फलम्. टिप्पणी १०।२०।२९). अतएव आगे निरोधलक्षण ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि संसारावेशमे दूषित इन्द्रियोंका हित

इसीमें निहित है कि भूमा-परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हें जोड़ दिया जाये. दर्शन-स्पर्शन-श्रवण-किर्तन-ध्यान-आदि क्रियाओंसे आन्तर-बाह्य सभी इन्द्रियोंको भगवदभिमुख बनाना चाहिये. जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यमें विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये.

श्रुतिमें जीवको—“काममय एवायं पुरुषः” कहा गया है. यह काम कौनसा है? सभी जीव चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हों, मर्यादामार्गीय हों, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोंसे परमानन्दकी कामना है. “न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति.” नेत्रोंसे, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचासे या कर्णोंसे हम खोज रहे हैं परमानन्द-रूप श्रीकृष्णको ही — रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दों को नहीं.

इस परमानन्दकी खोजयात्रामें शीघ्रतया उसे प्राप्त करनेके लिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है. अपनी बुद्धिको अपना सारथी बना लेती है और मनकी लगामसे बंधे हुए इन्द्रियोंके घोड़ोंको सरपट दौड़ाती है. ये इन्द्रियोंके घोड़े लेकिन बड़े ही उद्धत हैं—दौड़ते-दौड़ते ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते हैं; और... बेचारे जीवको लौकिक विषयोंकी वासनाके गर्तमें गिरा देते हैं! शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनेसे गिरा कि टूट जाता है — नष्ट हो जाता है!

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका खेल है. मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मोड़पर जो जीव अपने रथकी दिशा बदल नहीं पाते उनका तो विषय-वासनाके गर्तमें विनिपात निश्चित ही होता है. ऐसे जीवोंको ‘प्रवाहिजीव’ कहा जाता है. मर्यादामार्ग की ओर इस परमानन्दकी खोजमें रथोंको मोड़नेवाले मर्थादिक जीवोंपर इन दुर्घटनाओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ जाता है. वे मनोनिग्रह—मनकी लगाम खींच—करके रथको कथञ्चित् रोक देना चाहते हैं. कभी रथसे उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी कामना करने लग जाते हैं. कभी स्वर्गादि लोक या आत्मसुख के पडावोंपर ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते हैं. कभी असीम एवम् दिशाहीन अव्यक्तोपासनाकी बहु—जन्म जन्मान्तोंतक पूरी न होनेवाली अधिक क्लिष्ट यात्रापर निकल पड़ते हैं. कुल मिलाकर इन दुर्दान्त घोड़ोंके वेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का सामञ्जस्य बिठा नहीं पाते, पस्तहिम्मत होकर पैदल चलना अधिक पसन्द करते हैं (ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा, संघातस्य विलीनत्वात्, भक्तानां तु विशेषतः सर्वेन्द्रियैस्तथा-चान्तःकरणैरात्मनापि हि ब्रह्मभावात्....विशिष्यते). अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— “वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम्. यत्संस्कारयोग्यं तज्ज्ञानेन नश्यति यद्योग्यं तत्परित्यागेन. अतएव स्मार्तैः संस्काराशक्तैः परित्याग एव बोध्यते” (सुबो.) अर्थ: ज्ञान और वैराग्य से सारे ताप दूर हो जाते हैं, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णको भलीभांति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोंको (ब्रह्मसम्बन्ध) संस्कारसे शुद्ध कर

पायेंगे. अन्यथा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारसे शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये. यही कारण है कि स्मार्त लोग संस्कार द्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं. व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है.

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभांति जानना आवश्यक होता है. पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नहीं पाते तो सुधारनेका प्रश्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है.

एक परमात्माकी आत्मक्रीडाकी ही अनेक नामरूपोंमें अभिव्यक्त यह समग्र जगत है. हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं. मूल अंशके व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानजन्य अहन्ता-ममताके वशीभूत हो कर कोई क्षुद्र प्रयोजन घड़ लेते हैं, तभीसे सारी मुसोबतें खड़ी होने लगती हैं. इन्द्रियोंके तेज दौड़नेवाले घोड़ोंके रथमें तेजीसे भागते हुए हम दिशा भूल जाते हैं. अतएव शरणागति हमारी अहन्ताका शुद्धिसंस्कार है और ब्रह्मसम्बन्ध हमारी ममताका शुद्धिसंस्कार बनता है. अहन्ता-ममताके शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है. ऊबड़खाबड़ विषयवासनाके प्रदेशमें रथ दौड़ानेके वजाय हम पुष्टिके ऋजुमार्गपर पुनः आरूढ़ हो जाते हैं. विषयोंके सेवनमें परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनमें तो सब कुछ मिल जाता है! श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये—प्रेमसम्बलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा. अतएव उपनिषद्में परमात्माको—“सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम्” कहा गया है.

श्रीगोकुलाधोशको सर्वात्मना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंसे उन्हें चाहनेकी पहली शर्त है. यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्हें आंखोंसे भी देखा जा सकता है, कानोंसे सुना जा सकता, हाथोंसे पकड़ा जा सकता है और चरणोंसे दौड़कर परमात्माके निकट पहुंचा भी जा सकता है. आवश्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की!

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ।

आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ॥

अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।

तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ॥

तदन्तिकगतिनित्यमेवं तद्भावनं सदा ।

इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा ॥

यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णो फलं भवेत् ।

एवं मोक्षोपिन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि ॥ (वेणुगीतसुबो.)

“गिरधर देखे ही सुख होय ! नयनवन्तको यही परमफल, यही विधि मोय त्रिलोय !” अतएव श्रीमहाप्रभु श्रीगोकुलाधीशके वियोगके तीव्रतापमें हृदयमें-मनमें प्रकट होती भगवान्की स्वरूपानुभूति तथा लीलानुभूति को ‘परमफल’ कहते हैं। क्योंकि एकबार हृदयमें भगवान् बिराज जाते हैं तो देर-सबेर सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूतिकी कामना भी जग ही जाती है। इस कामनाके जगते ही अन्य लौकिक-वैदिक विषयोंकी कामनाओंका आकर्षण निःशेष हो जायेगा। भगवान् स्वयम् कहते हैं—“न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते, भजिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते” (भाग.) अर्थः जिनकी बुद्धि भगवान्में लग गयी हो उनका काम कामार्थ नहीं रह जाता, जैसे भूजे या उबाले हुए धान बीज नहीं बन सकते।

सभी इन्द्रियोंसे होनेवाली इस भगवदनुभूतिको वेणुगीत और भ्रमरगीत की सुबोधिनीमें ‘सर्वारम्भाव’ यमुनाष्टकमें ‘तनुनवत्व’ और सेवाफलमें ‘अलौकिक सामर्थ्य’ कहा गया है। यही निरोधकी फलावस्था है, जिसे यहां चतुःश्लोकीमें ‘मोक्ष’ कहा जायेगा। परन्तु इस सर्वेन्द्रियों द्वारा भगवदनुभूतिसे जीव सम्पन्न हो उससे पहले सर्वेन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिकी कामना—पुष्टिमार्गीय कामका जगना आवश्यक है। यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया समझ लेना चाहिये। अतएव वृत्र कहता है—

हे अरविन्दाक्ष ! मेरा हृदय तुम्हारे दर्शन चाहता है। जब मेरा मन तुम्हारे दर्शन चाहता है तो सभी इन्द्रियोंके द्वारोंसे वह तुम्हें अन्दर पधराना चाहता है। जैसे पक्षीके पंख बिनाके बच्चे अपनी माताकी प्रतीक्षा, चुगेके लिए करते हैं—जैसे गायका बछड़ा गायके थनसे दूधकी कामना करना है। सम्भवतः चुगा या दूध और कहींसे मिल जाये तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं, पर मेरा मन तो परदेश गये प्रियतमकी विरहिणी प्रेमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानमें—मनोरथोंमें जुड़ा हुआ केवल तुम्हें ही देखना चाहता है !

पुष्टिभक्तका मोक्ष

सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है। सर्वात्मना श्रीकृष्णके बननेका मतलब है—प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमें दृढ़ आसक्ति। भक्तको कृष्णानुभूतिकी व्यसन हो जाना। निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो संयोगमें बाह्यालम्बनसे सभी इन्द्रियोंसे कृष्णका अनुभव हो, अन्यथा वियोगमें आसक्ति-भ्रमन्यायसे पूर्वानुभूत श्रीकृष्णके स्वरूप एवम् लीलाका रोमन्थ-जुगाली इतनी तीव्र-तर हो जाये कि अन्तःस्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन, उद्दीपन तथा सञ्चारी भावके रूप) लेने लग जाये !

संयोगमें भजन-धर्म और वियोगमें स्मरण-स्मर-काम निरन्तर चलता रहे तो भक्तको मुक्त हो गया समझ लेना चाहिये। यह अनुभूति यदि इस भूतलपर होने लग जाये तो उसे जीवन्मुक्ति समझनी चाहिये। इसे ही ‘तनुनवत्व’ या ‘अलौकिक सामर्थ्य’

भी कहा गया है। नित्यलीला-व्यापिवंकुण्ठमें यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये। इसे ही ‘नवतनुत्व’ या ‘सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु’ कहा गया है। संक्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्रके रूपमें चल पड़ना पुष्टिभक्तका पुष्टिभक्तमें मोक्ष माना जाता है। क्योंकि पुष्टिभक्तका अर्थ—व्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेसे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं—स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप वही है। अतः वियोग और संयोग दोनोंमें वह अनुभूत हो सकता है। यही श्रीगोकुलाधीशका स्मरण और भजन है।

श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठमेव चेद् रोधनं स्थिरं, पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते” (भाग. निवन्ध) अर्थः भगवान्के वियोगमें भगवान्के गुणोंका गान ज्ञानरूप है; और संयोगमें—प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ है। यह होनेपर जीव भगवान्में निरुद्ध हो जाता है। व्रजकी स्त्रियों और पुरुषों को रातमें और दिनमें इन्हीं ज्ञान और भक्ति का निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था। उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था !

पुष्टिभक्ति अपने-आपमें मार्ग भी है और गन्तव्य भी—साधन भी है और फल भी। अतएव संयोग-वियोगमें भजन-स्मरणके चढ़ाव-उतारोंमें निरन्तर चलते रहना यहां मुक्ति है। पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलकर अन्यत्र कहीं पहुंचना नहीं है—केवल निरन्तर इसी सुहावने मार्गपर टहलते रहना है—चरैवेति ! चरैवेति !! चरैवेति !!!

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सहयात्रियोंका साथ मांगता है कि कभी वह अकेले चलते हुए अन्य मार्गपर भटक न जाये—

हे नाथ ! मुझे सर्वदा तुम्हारे भक्तोंका ही संग-साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे। कभी संसारासक्त व्यक्तियोंका सख्य मुझमें न पनपने पाये ! यदि यह देह-पुत्र-स्त्री-गृहादि विषयमें मेरी आसक्ति भी हो तो तेरी सेवामें उनकी उपयोगिता भर के लिए ही और किसी हेतुसे नहीं ! मैं समग्रतासे तेरा ही जाऊं और तू समग्रतासे मेरा . . .

वि. सं. १९७९ में श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीका प्रकाशन हुआ था। वृत्रासुरचतुःश्लोकीका प्रकाशन वि. सं. १९७८ में हुआ था। प्रस्तुत संस्करण उन्हींका ऑफ सेट प्रॉसेसमें पुनर्मुद्रित रूप है। ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महा-राजके ‘श्रीजीवनेशाचार्य-पुष्टि-सिद्धान्त-कार्यालय’ से प्रकाशित हुए थे। इनके संयुक्त-सम्पादक थे श्रीचीमन ह. शास्त्री तथा श्रीहरिकृष्ण वीरजी शास्त्री। इन सभी महा-नुमावोंका हम इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं।